International Journal of Hindi Research
www.hindijournal.com
ISSN: 2455-2232
Received: 14-12-2025, Accepted: 20-01-2026, Published: 05-02-2026
Volume 12, Issue 1, 2026, Page No. 72-74

साहित्य और समाज का अन्तर्सम्बन्ध

डॉ. अनुपम मिश्र
प्रवक्ता हिन्दी, राजकीय महिला महाविद्यालय, छिबरामऊ, कन्नौज, उत्तर प्रदेश, भारत

सारांश
साहित्य और समाज एक दूसरे के पूरक हैं। समाज की गहन संरचना साहित्य तथा विभिन्न कलारूपों में प्रकट होती है। भाषा, संस्कृति, इतिहास, दर्शन तथा ज्ञान के विभिन्न अनुशासनों का संगम साहित्य में होता है और साहित्य समाज का उपजीव्य है। इसीलिए साहित्य को समाज का दर्पण कहा गया है। दर्पण में वही दृश्य–परिदृश्य दिखाई पड़ता है, जो उसके समक्ष होता है, जो समाज में घटित हो रहा होता है। अतः हम कह सकते हैं कि साहित्य और समाज में बिम्ब–प्रतिबिम्ब भाव होता है। साहित्य और साहित्यकार समष्टि और व्यष्टि का प्रतिनिधित्व करते हैं। साहित्य की विशेषता यह है कि यह व्यष्टि को समष्टि में लय कर देता है। इस तरह व्यक्ति–संवेदना, लोक–संवेदना के रूप में प्रकट होती है। लोक तथा समाज की संवेदना की अन्तर्भुक्ति साहित्य को यथार्थवादी और प्रामाणित बनाती है।

मूल शब्दः संरचना, उपजीव्य, बिम्ब–प्रतिबिम्ब, व्यष्टि और समष्टि, अन्तर्भुक्ति, अन्योन्याश्रित, संचित कोष, काव्य–संसार, हिरण्यमय।

साहित्य एवं समाज का अन्तर्सम्बन्ध

साहित्य और समाज का सम्बन्ध परस्पर अन्योन्याश्रित है। साहित्यकार की संवेदना समाज के जटिल सम्बन्धों की प्रतिक्रिया से उत्पन्न होती है। साहित्यकार की आन्तरिक संवेदना विचारों के साथ मिलकर जब परिपक्व होती है, तब साहित्य का सृजन होता है। आचार्य शुक्ल ने इसीलिए कहा है कि साहित्य जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है। यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि जनता की चित्तवृत्ति समाज की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक गतिविधियों से प्रभावित होती है। इस सम्बन्ध में डा0 रघुवंश लिखते हैं – ''साहित्य की सारी अभिव्यक्ति सर्जनात्मक होती है, अतः उसका अनुभव संस्कृति की मूल्य प्रक्रिया से सम्बद्ध है।''[1] इसी सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल अन्यत्र कहते हैं कि सच्चा कवि वही होता है जिसे लोक हृदय की पहचान हो। जो अपने हृदय को लोक हृदय में लीन कर सके। निश्चय ही किसी भी राष्ट्र का कालजयी साहित्य लोक जीवन की अनुभूतियों से समृद्ध और लोकव्यापी आदर्शों से पुष्ट होता है । आचार्य शुक्ल जिसे लोक जीवन कहते हैं, उसे ही यहाँ समाज मानकर साहित्य और समाज के अन्तर्सबन्ध पर विचार किया गया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जब कहते हैं कि ''मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है'' तो उनका लक्ष्य ऐसे मनुष्य के लिए है जो समाज में रहकर एक दूसरे से जुड़ा हुआ रहता है ।यही कारण है कि भारतीय साहित्य की परम्परा में सामाजिक जीवन प्रत्यक्षतः या परोक्षतः अन्तर्व्याप्त होता है। भक्ति कालीन कवियों की सामाजिकता निर्विवाद है और आधुनिकता के जन्मदाता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सामाजिक जीवन में प्रवेश करने के लिए ही आरम्भ में नाटकों की रचना की है। नाट्यरचना में न केवल लोक जीवन की अन्तर्व्याप्ति होती है अपितु यह विधा समाज के लोगों को जागरूक करने के लिए रची जाती है। निराला, प्रेमचन्द, प्रसाद और दिनकर आदि साहित्यकारों की सफलता का आधार है – समाजोन्मुख साहित्य की सर्जना। उपन्यास सम्राट मुंशी प्रेमचन्द का विपुल साहित्य सामाजिक जीवन से ओत–प्रोत है। प्रत्येक कालजयी साहित्यकार के सृजन में केवल शिष्ट समाज ही नहीं होता, अपितु उस साहित्य में जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले सामान्य अथवा निम्न वर्ग के वे मनुष्य भी विद्यमान रहते हैं जो ''रोटी, कपड़ा और मकान'' के लिए अहर्निश संघर्ष करते रहते हैं।

साहित्य समाज का उपजीव्य है

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने एक सम्पादकीय में कहा है कि ''ज्ञानराशि के संचित कोष का नाम साहित्य है''। इस कथन में आचार्य द्विवेदी का यह दृष्टिकोणा निहित है कि साहित्यकार समाज में रहकर जीवन यापन करते हुए अपने लोक जीवन से जो अनुभव ग्रहण करता है सर्जना करते समय उन्हीं अनुभवों को वह व्यक्त करता है। अपने जीवन से ग्रहण किये गये ज्ञानसंवेदनों को पारिवारिक परिस्थितियों के अनुरूप अपने मनोभावों के अनुकूल बनाकर अभिव्यक्ति का रूप देता है। 'साहित्य' शब्द की व्युत्पत्ति हितेन सह सहितम्' अर्थात जिसमें समाज का हित निहित है वह साहित्य है और अन्य व्युत्पत्ति में सहितता का आशय विद्यमान है जो व्यक्ति और व्यक्ति में भावात्मक एकता उत्पन्न कर उन्हें सामाजिक नियमों और सरोकारों की सीमा में जोड़ता है। साहित्य की इन दोनों व्युत्पत्तियों में 'समानता इस आशय में है कि 'साहित्य' समाज और उसकी इकाई मनुष्य का कल्याण ध्यान में रखकर सृजित होता है और साहित्यकार जिसे कि यहाँ सर्जक कहा जा रहा है, वह साहित्य का स्रष्टा होता है। एक सूक्ति में कहा गया है कि

अपारे काब्य संसारे कविरेव प्रजापतिः
यथास्मै रोचते विश्वं तथैव परिकल्पते।। (1)

इसका अर्थ यह है कि उसे जैसा रूचिकर लगता है वैसी परिकल्पना वह साहित्य में करता है। साहित्य, अंग्रेजी के 'लिटरेचर' का पर्याय है और भारतीय मान्यताओं के अनुसार सम्पूर्ण 'वाड्मय साहित्य में समाहित है। डॉ0 विश्वनाथ प्रसाद तिवारी लिखते हैं – ''साहित्य का देश मूल्यों का देश है। इस देश का निवासी कवि (कबीर) बेहद्दी के मैदान में सोता है। कोई सीमा नही कोई दीवार नहीं है। वे दरो दीवार का एक घर बनाना चाहिए (गालिब)। एक शायर का यही सपना हो सकता है। देशे–देशे मोर देश आछे (रवीन्द्र नाथ) हर देश में लेखक का देश है क्योंकि उसकी सीमायें कटीले तारों से नहीं मूल्यों से निर्धारित होती हैं। (2)
मूल्यों का आशय वे जीवन मूल्य हैं जो समाज से ग्रहण किये गये होते हैं और जिन्हें स्वीकार करके हर आम आदमी जीवन जीता है और व्यक्तिगत तथा सामाजिक मान्यताओं के अनुरूप अपने–अपने कार्य में संलग्न रहकर वह अर्थोपार्जन करके जीविका चलाता है।

साहित्य के बताये गये इस लक्षण में साहित्य और समाज के गहरे रिश्ते की स्वीकृति तो है ही साथ ही इसका अर्थ यह भी है कि साहित्य की सर्जना मनुष्य के लिए होती है और सर्जक भी समाज में रहकर जीवन जीते हुए जिस ज्ञानराशि को संचित करता है उसे अपनी प्रतिभा, ज्ञान तथा सद् और 'असद्' में भेद करते हुए 'सत्' को समाज के लिए व्यक्त करता है और 'असद्' को वह अनुपयोगी समझकर छोड़ देता है।

साहित्य का अर्थ तथा परिभाषा

साहित्य का व्युत्पत्ति और उसके अर्थ की परम्परा को हम दो वर्गो में विभक्त करना चाहते हैं –
(क) साहित्य का आदर्शवादी अर्थ।
(ख) साहित्य का यथार्थवादी अर्थ।

आदर्शवादी अर्थ–वेद, पुराण, धार्मिक ग्रंथों तथा संस्कृत की प्रसिद्ध रचना 'रामायण' और 'महाभारत' में विद्यमान है। साहित्यकार को दूसरा ब्रह्म कहा जाता है और उसके ज्ञान को स्वर्ण पात्र में विद्यमान रस।महाभारत कहता है–

श्रुतिः विभिन्ना स्मृतयश्च भिन्ना,
न एको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायाम्,
महाजनो येनः गतः स पन्थाः ।।

अर्थात् श्रुतियाँ भिन्न हैं, स्मृतियाँ भी भिन्न हैं और एक भी मुनि के वचन प्रमाण नहीं हैं। धर्म का तत्व गुहा में निहित है अर्थात् गहन है इसलिए महाजन जिस मार्ग पर चलते हैं वही मार्ग है, वही प्रमाण है।[1]
इस कथन का ही रूप उपनिषदों में भी मिलता है जिसमें कहा गया है
सत्य का मुँह हिरण्मय पात्र से ढका हुआ है। सत्य के इसी गहन अर्थ को जानने वाला ज्ञानी कहा जाता है। इसलिए सत्य का अनुसंधान करने वाले वेदव्यास, वाल्मीकि आदि श्रेष्ठ ऋषियों को आदिकवि, आचार्य, ज्ञानी, युग द्रष्टा कहा गया और इनकी रचनाओं में आगत कथन को प्रमाण मानकर समाज के लिए वही आदर्श बन गया।
साहित्य सर्जना का आरम्भ वेद–पुराण, धर्म–ग्रंथ तथा रामायण से माना जाता है और आदि कवि वाल्मीकि को। अब साहित्य की समाज परक व्याख्या किये जाने का अर्थ है आधुनिक मान्यताओं के आलोक में साहित्य में आगत कथन को युग सापेक्ष्य प्रमाणित किया जाय। क्योंकि साहित्यकार द्वारा किसी रचना में प्रतिपादित 'सत्य' अंतिम सत्य नहीं होता। आज जब साहित्य और 'कला' की नयी–नयी विवेचना और समीक्षा की जा रही है, तो साहित्य और समाज के अन्तर्सम्बन्ध के अनुशीलन में 'साहित्य' के यथार्थवादी अर्थ को भी मानना चाहिए क्योंकि कोई भी सत्य सदा–सदा के लिए सत्य नहीं होता। 'मूल्यवादी समीक्षा की विवेचना करते हुए डॉ0 कृष्ण दत्त पालीवाल लिखते हैं – ''साहित्य तथा समाज का सम्बन्ध जोड़ते हुए मार्क्स ने 'व्यक्तिवाद' का खण्डन किया तथा 'समष्टिवाद' को तत्परता से गले लगाया है। कला स्वप्न लोक की वस्तु न होकर उसके चिन्तन में कठोर यथार्थ और जीवन संघर्ष की अनुगामिनी है। मार्क्स तथा ऐंजिल्स ने सामाजिक प्रगति से आर्थिक प्रभावों को विशुद्धता से जोड़कर कला और संस्कृति पर गम्भीरता से विचार किया। डॉ0 पालीवाल ने कहा है कि मार्क्स का यह यथार्थवादी सिद्धान्त जर्मनी में प्रचलित आदर्शवादी सिद्धान्तों की प्रतिक्रिया से उपजा है। आदर्शवादी मान्यता का आधार धार्मिक आस्था पर टिका होता है जिसमें भगवान और उनकी सत्ता को महत्व दिया जाता है। जिसमें यह माना जाता है धर्म ग्रंथ, घटनायें ब्राह्मण ग्रंथ, उपनिषद्ों आदि रचनाओं का प्रेरक भगवान या ईश्वर है। यही कारण है कि न केवल 'भारत अपितु विश्व के अधिकांश देशों का पुरातन साहित्य धर्म ग्रंथ के रूप में रचा गया। 'बाइबिल', 'कुरान', 'रामायण', अथवा 'महाभारत' किसी न किसी 'धर्म' द्वारा स्वीकार किये गये हैं और इनकी मान्यताओं को रचना में विद्यमान ज्ञान को नीति धर्म 'आस्था' और मर्यादा का पोषक कहा जाता है।

साहित्य का केन्द्र मनुष्य है

'साहित्य' और 'समाज' का केन्द्र मनुष्य है क्योंकि समाज की इकाई मनुष्य होता है और साहित्य का पाठक, ग्रहीता, भोक्ता अथवा सर्जक मनुष्य ही होता है। डॉ0 विश्वनाथ प्रसाद तिवारी लिखते हैं कि – राज्य, धर्म, विचारधाना और साहित्य, इन चारों का अन्तिम लक्ष्य एक ही है अर्थात् मनुष्य और इनका जन्म एक ही लक्ष्य के लिए हुआ है, पर कालान्तर में इनकी दिशायें अलग हो जाने के कारण इनमें स्पष्ट और गहरा विरोध हो गया है। राज्य, धर्म और विचारधारा इन तीनों ने अपनी–अपनी सत्तायें कायम कर ली हैं और जैसा कि सत्ता का मूल चरित्र होता है ये अपनी–अपनी रक्षा में लगी हैं। इसीलिए व्यवहार में अब इनका मनुष्य के लिए रिश्ता उलट गया है।
डा0 तिवारी भले ही यह मानते हैं कि राज्य, धर्म अथवा विचारधारा का मनुष्य से रिश्ता उलट गया है किन्तु राज्य को चलाने वाला, धर्म को मानने वाला अथवा विचारधारा का प्रवर्तक मनुष्य होता रहा है। राज्य, धर्म और विचारधारा
के इसी अन्तर्सबन्ध के परिप्रेक्ष्य में हम मनुष्य और उसके समाज की भूमिका को समझना चाहते हैं। क्योंकि मनुष्य 'समाज' में रहता है और समाज उसे जोड़े रहता है। मनुष्य के समस्त क्रिया कलापों का स्थल 'समाज' है।
साहित्य और समाज पर विचार करते समय यह भी जानना आवश्यक है कि समाज की परिकल्पना में साहित्य का योगदान अथवा साहित्य की परिकल्पना में समाज की क्या भूमिका होती है। डॉ0 मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं कि ''आज के भारतीय समाज में मनुष्य की आजादी का गला घोंटने के लिए पुरानी सामाजिक संरचनाओं, विचारधाराओं, मिथकमालाओं, मानसिकताओं और इतिहास की प्रक्रियाओं का जिस तरह सहारा लिया जा रहा है उसकी चुनौती का सामना कलावादी रचना और आलोचना से नहीं किया जा सकता। उसके लिए सभ्यता समीक्षा का विकास जरूरी है जिसे मुक्तिबोध रचना और आलोचना दोनो के लिए अनिवार्य मानते हैं''। आज के जिस समाज की विसंगतियों की बात डॉ0 पाण्डेय करते हैं 'साहित्य का सम्बन्ध उसी समाज से है। प्रस्तुत लेख में इसी समाज की राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक गतिविधियों पर भी दृष्टि डालना है जिनकी सम्मिलित प्रक्रिया रचना के रूप में आ रही है। इस युग की साहित्यिक सर्जना चाहे वह कहानी, उपन्यास या नाटक के रूप में हुई हो अथवा उसके बार–बार 'आलोचना' की सामाजिकता कहकर अनुशीलन का आधार बनाया जा रहा, हर स्थिति में समाज की परिवर्तनशीलता ही लक्ष्य में रहती है। सामाजिक परिवर्तन के कारण ही साहित्य की भाषा, संवेदना, कथ्य अथवा शिल्प बदलता जाता है।
समाज अथवा आधुनिक समाज कहे जाने पर भी पूर्व लक्षित 'आदर्शवाद' अथवा 'यथार्थवाद' पर भी सम्यक दृष्टि डालना आवश्यक है
क्योंकि सामाजिक सरोकारों का अध्ययन एकाकी मनुष्य नहीं अपितु सामाजिक मनुष्य की सोच से सम्बन्धित है। पुरानी सामाजिक मान्यताओं का सम्बन्ध धर्म, सम्प्रदाय अथवा अध्यात्म से होने के कारण आधुनिक मार्क्सवादी समीक्षक मनुष्य की स्वतंत्रता में इन्हें बाधक मानते हैं। किन्तु समाज का विकासात्मक स्वरूप समझे बिना साहित्य अथवा नयी कविता अर्थात् 'नये साहित्य' का अनुशीलन एकांगी हो जाता है। जिस प्रकार साहित्य की विकास

यात्रा में 'नयी कविता' को समकालीन समाज से सम्बन्धित माना जाता है उसी प्रकार साहित्य का शाश्वत सम्बन्ध समाज और उसकी परम्परा से है।
गोस्वामी तुलसीदास जी ने ''श्री रामचरितमानस'' में साहित्य को गंगा के समान लोक कल्याणकारी माना है। उन्होने कहा है –

कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई।।[8]

संदर्भ सूची

1. हिन्दी आलोचना का विकास– नन्द किशोर नवल– पृष्ठ–316
2. अग्निपुराण – 339.10
3. आलोचना के हाशिये पर– डा0 विश्वनाथ प्रसाद त्रिपाठी, पृष्ठ–7
4. आलोचना के हाशिये पर– डा0 विश्वनाथ प्रसाद त्रिपाठी, पृष्ठ–4
5. हिन्दी आलोचना के नये वैचारिक सरोकार– डॉ0 कृष्णदत्त पालीवाल पृष्ठ–128
6. आलोचना के हाशिये पर – विश्वनाथ त्रिपाठी, पृष्ठ 5–6
7. अनभै साँचा–मैनेजर पाण्डेय (भूमिका)
8. श्री रामचरितमानस – गोस्वामी तुलसीदास